

बांदिशों से परे

शिक्षा पर बच्चों के सामाजीकरण का इतना गहरा और व्यापक दबाव रहा है कि शिक्षा को सामाजीकरण के जरिए से इतर समझने में अक्सर समाज विज्ञानियों को दिक्कत होती है। लेकिन वास्तव में सामाजीकरण क्या है एवं सामाजीकरण और शिक्षा का क्या संबंध है ? सामाजीकरण वह सहज प्रक्रिया है जो इंसान के इस दुनिया में कदम रखने के बाद ही शुरू हो जाती है और यह हर इंसान के लिए अपरिहार्य प्रदत्त परिस्थिति (गिवन सिचुएशन) है। जब बच्चा समाज में रहते हुए समाज के नियम-कायदों, विश्वासों, आस्थाओं, आचार-व्यवहारों और मूल्यों आदि को सीखता और आत्मसात करता है, यही सामाजीकरण है। यदि इंसानी समाज में कदम रखने वाले हर प्राणी का सामाजीकरण नहीं होगा तो इस दुनिया में बने रहना उसके लिए मुश्किल हो जाएगा। सामाजीकरण 'जो है' उसे जानने-समझने और मुख्यतः ग्रहण करने का मामला है। यह प्रक्रिया इंसान में जन्म के साथ ही अचेतन रूप से आरंभ हो चुकी होती है। 'जो है' उसे जानने-समझने में किसी को क्या आपत्ति हो सकती है ! लेकिन सामाजीकरण की समस्या यहीं खत्म नहीं हो जाती। इस अवधारणा के साथ ऐसा अहसास होता है कि 'जो है' वही अन्तिम सत्य और वांछनीय है और उसे ही बनाए रखना चाहिए और जिन मान्यताओं, विश्वासों, नियम-कायदों और मूल्यों आदि को ग्रहण करने की बात की जाती है जैसे कि वे मानव समाज के उद्भव से ही अनवरत अपरिवर्तनशील रूप में चले आ रहे हैं। लेकिन शिक्षा अपनी प्रकृति से ही एक सुविचारित और सुनियोजित सचेतन प्रक्रिया है, और इसीलिए यह सामाजीकरण से भिन्न है, जो कि प्रश्न-प्रतिप्रश्न पर टिकी रहती है। प्रश्न-प्रतिप्रश्न आलोचनात्मक चिन्तन को जन्म देते हैं। और यही आलोचनात्मक चिन्तन कभी भी यथास्थिति को स्वीकार करके नहीं चलता।

यदि संकल्पना के स्तर पर देखा जाए तो (मैं अभी शिक्षा के नाम पर जो हो रहा है उसकी बात नहीं कर रहा हूँ) शिक्षा और सामाजीकरण के बीच द्वन्द्वात्मक संबंध उभरता है। सामाजीकरण की संकल्पना सर्वदा शिक्षा की संकल्पना से मेल नहीं खाती। शिक्षा के माध्यम से 'जो है' उसे जानने की बात तो हमेशा की जाएगी लेकिन 'जो है' उससे संतुष्ट होकर बैठ जाने से शिक्षा का काम नहीं चलता। वैसे भी समाज की निरन्तर विकासमान अवधारणा भी सामाजीकरण के विचार से मेल नहीं खाती। सामाजीकरण से ऐसा लगता है जैसे कि समाज किसी स्थिर अवस्था में रहता है, जो कि मानव समाज की विकास यात्रा को देखने पर सच नहीं ठहरता। यदि शिक्षा के माध्यम से सिर्फ सामाजीकरण को स्वीकारा जाए तो सवाल उठता है कि फिर सामाजिक परिवर्तन को कैसे समझा जाए ?

शिक्षा सामाजीकरण करती है, समाज के स्थापित मानदण्डों को बच्चों तक संप्रेषित करती है यह शिक्षा का एक यथार्थ है। यदि सामाजीकरण समाज के माध्यम से होने वाली प्रक्रिया है तो फिर शिक्षा की जरूरत ही क्या है ? समाज विज्ञानी कह सकते हैं कि जो समाज में है उसे समाज में कदम रखने वाले हर इंसान तक बेहतर रूप से संप्रेषित करना ही शिक्षा का काम है। पुनः यह विचार समाज को यथास्थिति में ही बनाए रखेगा। इस यथास्थिति से मुक्ति दिलाने का रास्ता शिक्षा सुझाती है। शिक्षा 'जो है' उस पर निरन्तर सवाल उठाने का काम करती रहती है। और यहीं से समाज की विकासमान अवधारणा भी अपना अन्न-जल पाती है।

शिक्षा अपना काम बेहतर रूप से करती रहे इसके लिए शिक्षा के दर्शन की आवश्यकता है। शिक्षा दर्शन की बात करना आज के समय में अधिकांश लोगों को शायद व्यर्थ और समय खपाने वाला काम लग सकता है लेकिन यदि शिक्षा चिन्तन, पुनर्चिन्तन और आलोचनात्मक विवेक के विकास का माध्यम है तो यह अपने आप में एक दार्शनिक कर्म है। जॉन डिवी का लेख 'शिक्षा के दर्शन की जरूरत' शिक्षा के नाम पर जो हो रहा है और जो इस प्रक्रिया के दौरान जो घटित होता है, उसे समझने की बात करता है। जॉन डिवी परंपरागत रूप में प्रचलित शिक्षा की आलोचना करते हुए नई शिक्षा की बात करते हैं। जॉन डिवी जिस शिक्षा की पैरवी करते हैं उसे 'प्रगतिशील शिक्षा' के नाम से जाना जाता है। प्रगतिशील शिक्षा परंपरागत शिक्षा की समस्याओं

जिसमें कि विषयवस्तु की जड़ता, शिक्षण पद्धतियों में सत्तावाद और शिक्षार्थी को निष्क्रिय ग्रहणकर्ता के रूप में देखे जाने के विरोध में पनपी है। जॉन डिवी अपने लेखन में शिक्षा और प्रगतिशील शिक्षा को ठोस दार्शनिक आधार देते हैं।

कमला वी. मुकुंदा का 'अंतस की पड़ताल' भी शिक्षा और सामाजीकरण के बीच की बैचेनी से पनपा लेख है। कमला वी. मुकुंदा शिक्षा को सामाजीकरण का औजार मानने से इंकार करती हैं। उनका कहना है कि इतना कह देने भर से शिक्षा का काम नहीं चलता। वे शिक्षा को बाहरी तौर पर थोपी गतिविधि नहीं मानकर उसे अंतस की खोज (डेल्विंग विदइन्) के रूप में देखती हैं। यह अंतस की खोज किसकी है ? यह अन्तस की खोज शिक्षार्थी और शिक्षक दोनों के स्तर पर ही है और जो शिक्षा नाम की जिसकी खोज इस प्रक्रिया में रत रहने से ही होती है, किसी दूरस्थ दृष्टा द्वारा परिभाषित की जाने वाली चीज के तौर पर नहीं है। इसी आशय की बात जॉन डिवी अपनी पुस्तक 'माई पैडागॉजिक क्रीड' में कुछ इस प्रकार कहते हैं, 'जिन सामाजिक परिस्थितियों में बच्चा अपने-आपको पाता है वास्तविक रूप से शिक्षा उन परिस्थितियों में बच्चे के उत्प्रेरण से शुरू होती है।' कमला वी. मुकुंदा की अंतस की पड़ताल की शुरुआत भी शिक्षा प्रक्रियाओं में बच्चे की इसी तरह की व्यस्तता से उपजती है।

प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल के साथ बातचीत शिक्षा और संस्कृति के संबंधों की खोज का एक प्रयास है। किसी समाज की जड़ों को बिना संस्कृति के नहीं समझा जा सकता। प्रत्येक समाज अपने आपको सांस्कृतिक विरासत के साथ ही परिभाषित करता है। शिक्षा भी संस्कृति के प्रभावों से मुक्त नहीं होती। शिक्षा और संस्कृति के संबंध को समझने में समस्या तब उत्पन्न होती है जब कि संस्कृति को अपरिवर्तनशील और स्थायी मान लिया जाता है और समाज में इस पर प्रश्न करने की आजादी नहीं होती। तब संस्कृति बुत परस्ती या बंदर के मृत बच्चा प्रेम से अधिक नहीं रह जाती। संस्कृति ही क्या कोई भी चीज जब प्रश्न प्रतिप्रश्न के दायरे से बाहर की जाती है तो उसका अवश्यंभावी परिणाम जड़ता ही होता है। ऐसी जड़ता जो कि अतीत के गौरवगान से खुश तो हो सकती है लेकिन समाज के साथ गतिशील नहीं रह सकती। यदि संस्कृति को अपरिवर्तनशील मान लिया जाए तो शिक्षा के माध्यम से उसके सामाजीकरण से बेहतर और क्या हो सकता है ? शायद यह आवश्यक होगा कि शिक्षा के माध्यम से संस्कृति की परिवर्तनशील प्रक्रिया को रेखांकित किया जाए और उसे संप्रेषित करने का जो तरीका प्रो. अग्रवाल सुझाते हैं कि अपने व्यवहार से उसे संप्रेषित करने के अलावा और कोई बेहतर तरीका नहीं हो सकता। वे अपनी बातचीत में इस बात को जोर देकर कहते हैं कि संस्कृति के विमर्श को आज के समय में बिना सार्वभौमिक कोटियों के समझना मुमकिन नहीं है। देशज संस्कृति और सार्वभौमिक मूल्य व्यवस्था के द्वंद्व के संदर्भ में कहते हैं कि ऐसी चीजों को चिन्हित किया जाना चाहिए जिनका व्यापक सार्वभौमिक मूल्यों पर कोई विपरीत प्रभाव पड़ता हो और यदि इस तरह की मूल्य संरचना को कोई समाज या समुदाय बनाए रखना चाहता हो तो इसमें किसी तरह की समस्या नहीं होनी चाहिए। शिक्षा ऐसी सभी बंदिशों का अतिक्रमण करती है जो कि उसपर सामाजीकरण या किसी भी तरह के नाम से लगाई जाती हैं और शिक्षा के कारोबार को किसी खास ढांचे में बांधकर रखती हैं। पुस्तक समीक्षा में प्रो. कृष्ण कुमार की पुस्तक 'प्रेजुडिस एण्ड प्राइड' के अनुवाद 'मेरा देश तुम्हारा देश' की समीक्षा है। यह पुस्तक भारत और पाकिस्तान के इतिहास के एक छोटे खण्ड पर केन्द्रित करके यह देखने का प्रयास करती है कि आजादी आन्दोलन काल के इतिहास को दोनों देशों के बच्चों को कैसे पढ़ाया जाता है। प्रो. कृष्ण कुमार ध्यान दिलाते हैं कि साझे सांस्कृतिक इतिहास के बावजूद दोनों देशों की इतिहास की पाठ्यपुस्तकें राजनैतिक आग्रहों से निर्मित होती हैं और जो पाठ्यपुस्तकें बच्चों को केन्द्र में रखकर लिखी जानी चाहिए, कैसे राजनैतिक एजेण्डे को बच्चों के मानस में आरोपित करने के लिए लिखी जाती हैं ?

बाल साहित्य समीक्षा में बच्चों के लिए वत्सल प्रकाशन, बीकानेर से बच्चों की प्रकाशित तीन पुस्तकों की समीक्षा हिन्दी के जाने-माने कहानीकार स्वयं प्रकाश ने की है। इस समीक्षा में स्वयं प्रकाश इन पुस्तकों के माध्यम से वयस्कों के उस दुराग्रह की ओर संकेत करते हैं जिसमें कि वे बच्चों को हरेक चीज से कुछ न कुछ सीखने का आग्रह करते हैं कि मानो उन चीजों का अस्तित्व बच्चों को सिखाने के लिए ही बना हो। वे बच्चों के लिए कल्पनाशीलता के नाम पर किसी भी तरह की कल्पना को वैध ठहराने का विरोध करते हैं।

इसी तरह की सामग्री के साथ यह अंक पाठकों के हवाले है, उनकी प्रतिक्रियाओं और रचनात्मक सहयोग की अपेक्षा से। ♦

विमर्श